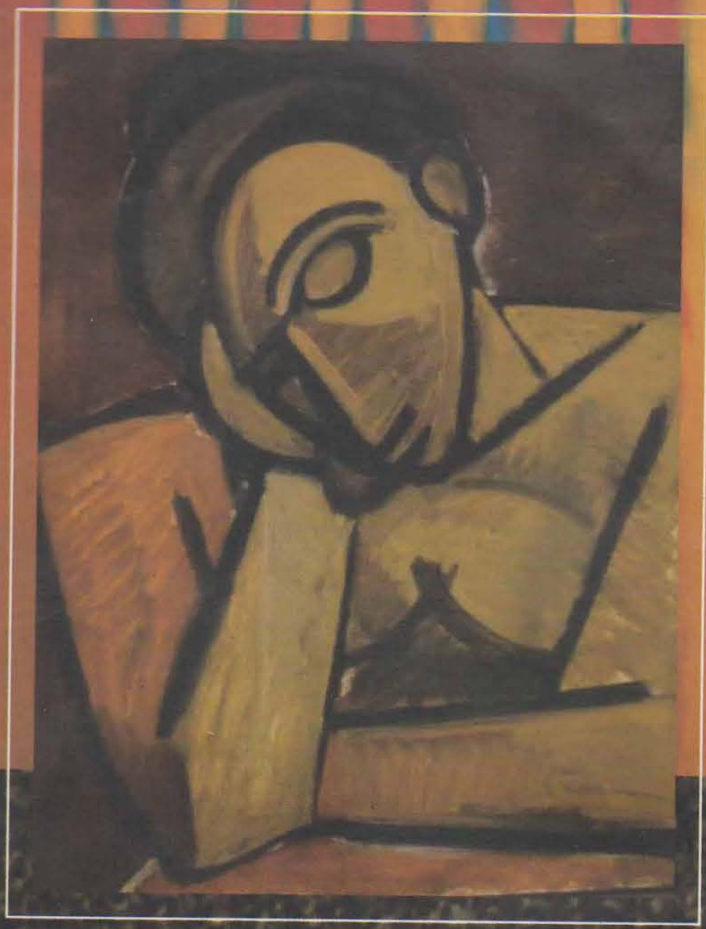

आधुनिक महिला लेखन

(कहानी)

सम्पादन

रमणिका गुप्ता

इस संकलन में दो-तीन दशकों से कथा साहित्य में अपनी पहचान बनाने वाली कथा लेखिकाओं की यादगार कहानियों को संकलित किया जा रहा है। ये कहानियां आज के जन-जीवन में व्याप्त विसंगतियों, असामाजिक प्रपंचों एवं महिलाओं के राग-द्वेष से संबंधित विभिन्न समस्याओं की जीवंत गाथाएँ हैं। इन कहानियों से गुजरते हुए पाठक अपने समय की विभिन्न मनःस्थितियों एवं दुश्चिंताओं से साक्षात्कार कर सकेगा। प्रत्येक कहानी अपना स्थायी प्रभाव छोड़ने में सक्षम है। निश्चय ही ये कहानियाँ साहित्य में अपना ऐतिहासिक महत्व स्थापित करेंगी।

इस संकलन में प्रमुख कथा लेखिकाएँ हैं—कृष्णा सोबती, मन्नू भंडारी, नासिरा शर्मा, नमिता सिंह, प्रभा खेतान, कमल कुमार, सुषम बेदी, रमणिका गुप्ता, पुष्पा सक्सेना, देवयानी, रागिनी मालवीय आदि।

आधुनिक महिला लेखन

(कहानी)

प्रस्तावना

महिला केन्द्रित कहानी-संग्रह की यह योजना वास्तव में कोचीन के शोधकर्त्ता श्री मधु वासुदेवन जी के पत्र पर बनी। गोष्ठियों में प्रायः यह कहा जाता रहा है कि महिला लेखिकाएँ घर-आँगन में सिमट कर ही रह जाती हैं, उनके पात्र गुडी-गुडी, आज्ञाकारी पति-पुत्र-पुत्रियाँ, सास-नसद-बहू या सताई गई उत्पीड़ित बहुएँ या माताएँ ही होती हैं? वे उनसे बाहर निकलती ही नहीं। राँची में सुश्री इन्दु जैन आई हुई थीं एक लेखिका सम्मेलन में। मैं भी वहीं थी। वहाँ भी विवाद छिड़ा कि वया महिलाओं के बारे में केवल महिलाएँ ही अधिक आधिकारिक रूप से लिख सकती हैं? क्या पुरुष उनके हक की तरफदारी में कुछ कमी करते हैं? क्या वे अधिक संवेदनशीलता से नारी समस्याएँ नहीं उठाते? क्या महिला लेखिकाएँ औरतों की समस्याओं पर अधिक जागरूक होकर बेबाकी से साफ-साफ लिखती हैं या उनमें भी समझौतापरस्त हैं, संघर्षशीलता के साथ-साथ?

बात जो भी हो, यह तो है ही कि औरतें लिखेंगी तो अधिक भरोसे का, खुला हुआ, जो गहरे सरोकार का परिचायक होगा, बशर्ते वह निस्संकोच होकर, निडरता से बेवाक लिखें। मीरा की तरह लोक-लाज छोड़ कर लिखें। वर्जनाओं को नकार कर लिखें।

इसलिए यह संग्रह है। पर यह कहानी भर तैयार करने के लिए और उसके संदर्भ में महिलाओं की भूमिका उजागर करने के लिए नहीं है। हमारी मान्यता है कि साहित्य समाज से न केवल आधार-वस्तु प्राप्त करता है बल्कि वह उस आधार-वस्तु के यथार्थ की संवेदना प्रखर

करके, उसे बदलने की भी प्रेरणा देता है। इधर औरतों के सम्बन्ध में जो डरावनी खबरें मिल रही हैं, उन्हीं के दबाव ने इस संग्रह की योजना को और अधिक सार्थकता तथा बढ़ावा दिया है। ज्ञात-अज्ञात अनगिनत औरतों की तरह-तरह की पीड़ा और यन्त्रणा में साझीदारी के साथ-साथ उनमें से जो थोड़ा बहुत जुझारू रवैया अपना कर जद्दो-जहद कर रही हैं, चाहे वह किसी भी स्तर किसी भी रूप में किसी भी क्षेत्र में हो उनके साथ भागीदारी का आमन्त्रण इस संग्रह का उद्देश्य है।

हमारा उद्देश्य भारतीय समाज का, विवेक के आधार पर ऐसा पुनर्गठन है जिससे मानवीय गरिमा का वास्तव में प्रसार हो। लगभग डेढ़ सौ वर्ष पहले भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा की गई कामना 'नारि नर सम होहिं' सार्थक हो सके। भारतीय समाज ऐसा हो कि उसमें इस तरह की समता हो, न्याय हो, यहाँ तक कि योनि-भेद पर आधारित विभेद की मानसिकता के लिए भी उसमें कोई जगह नहीं रहे।

औरत की समस्या आर्थिक तो है ही, पर उससे भी अधिक सामाजिक है। सामाजिक में भी विशेष रूप से यौनपरक है। यौन पक्ष औरत की जितनी बड़ी ताकत है उतनी ही बड़ी उसकी कमजोरी भी है। इस प्रसंग में प्रकृत्ति ने भी उसके साथ कुछ ऐसा बर्ताव किया है जिसके लिए सामान्य तौर पर उसे पुरुष से भी अधिक महत्व मिलना चाहिए था। किन्तु ऐतिहासिक त्रासदी यह है कि उसके कारण वह और अधिक लाचार बनी रही है। हालाँकि प्राग्ऐतिहासिक काल आदिम युग में ऐसा न था। उसकी यही शक्ति पूज्य थी। वह लांछित न थी। वह स्वयं इसी शक्ति के आधार पर कबीलों की भी नेत्री देवी थी। सभ्यता के साथ-साथ पुरुष-प्रभुता आई। पुरुष-सत्ता के आते ही भोग-प्रवृत्ति बढ़ी और शुरू हुई नारी को भोग्या मानने की परम्परा। सभ्यता पुरुष के कन्धे पर सवार होकर बढ़ने लगी और औरत भोग्या बनती चली गई। तभी से उसका यौन-पक्ष लांछित हो गया। माँ सृष्टि की आधारशिला है, माँ बनना एक सृजन है पर फिर भी उसकी स्वच्छन्दता, उसी भूमिका के कारण कलंक बन जाती है। जबकि पुरुष स्वछन्दता का निर्विघ्न सुख भोगता है।

इस पक्ष को लेकर महिला लेखिकाओं द्वारा काफी कुछ लिखा जा रहा है। लिखा भी गया है। इस्मत चुगतई उर्दू की लेखिका होने पर भी हिन्दी जगत् के लिए प्रेरक रही हैं। कृष्णा सोबती, कमला दास, पंजाबी की अमृता प्रीतम अपनी बेबाकी के लिए। वे औरत के 'भीतर' को

उसके खोल से बाहर लाने में अपना सानी नहीं रखतीं। कृष्णा सोबती, कमला दास और अमृता प्रीतम की 'जीवनियाँ' याद की जाएँगी।

हाल के दिनों में प्रभा खेतान ने 'छिन्नमस्ता' में बौद्धिक दायरे में भी एक विशेष वर्ग के पुरुषों का औरतों के प्रति रुख औरत का उन स्थितियों के अनुरूप अपने को बदलते हुए आगे बढ़ते जाना नारी मानसिकता को खुले रूप से उजागर किया है। औरत झुकती भी है लुटती भी है पर संकल्पित है अपने ध्येय की प्राप्ति के लिए। इसलिए वह आगे बढ़ती है कुण्ठाओं, हीन-भावनाओं से लड़ती-भिड़ती। वह देवी सीता या सावित्री नहीं है, वह आज की जूझती हुई औरत है।

यह मिथक कि औरत महत्वपूर्ण लेखन नहीं कर सकती एक गढ़ा गया मिथक ही है जो टूट चुका है। एक वरिष्ठ लेखक ने जिनका नाम तो मैं नहीं लूँगी, एक नामी, जानी-मानी लेखिका की कृति देखकर उनसे पूछ ही लिया था 'क्या औरतें भी लिख लेती हैं?' हाँ औरत लिख ही नहीं लेती वह लिख रही है और साहित्य रच रही है कूड़ा-करकट नहीं। केवल ऐसी सोच वाले लेखक, आलोचकगण अपनी नजर और सोच साफ रखें। महिलाओं ने लिखा है, यही सोचकर उनकी रचनाएँ खारिज न कर दें। महिला रचनाकार के नाते दया-पूर्वक रचना का मूल्यांकन नहीं बल्कि उन्हें बराबर का लेखक होने की कसौटी पर परखे जाने की जरूरत है। दृष्टि का अन्तर भले हो सकता है, पर इनकी पकड़ मजबूत होती है। इनकी सोच सतही नहीं होती, वह भोगे हुए सच पर आधारित होती है और वह प्रकट होती है, तो पक-तप कर, निचोड़ बनकर। हाँ, यदि कोई दम्भ, कोई अहम् इनकी दृष्टि, इनकी सोच को ही नकारे तो उसमें परखने वालों की दृष्टि का दोष होता है, रचना या रचनाकार का नहीं। इनकी कलम गोशे-गोशे को छूने लगी है। हर राह को परखती है, हर मुहिम पर भिड़ने-अड़ने-जूझने लगी है।

आज महिला लेखिकाएँ सभी विषयों पर लिखती हैं। सभी परिस्थितियों में हस्तक्षेप करती हैं। केवल अपना भोगा हुआ सच ही नहीं, दूसरों के प्रति उनकी संवेदना उसी शिद्दत से जगती है।

जहाँ वह अपने गिर्द के छोटे-छोटे ज्ञात-अज्ञात पात्रों के माध्यम से देश के सामने आई चुनौतियों और संकट की तरफ ध्यान आकर्षित करती है (पुष्पा सक्सेना की 'जय श्रीराम') कहीं वह बाल मजदूर जो पढ़ना चाह कर भी पढ़ नहीं सकते और मालिक एवं अपने सगे-सम्बन्धियों

के स्वार्थ, शोषण और जुल्म का शिकार होते हैं (कु. रागिनी मालवीय की 'संजीवना')।

महिला लेखिका बेबाकी से लिखती है अब चाहे, सामन्ती, राजनैतिक परिवेश से जूझती, अपराधबोध और आत्म उत्सर्ग के बीच झूलती, आत्मतर्पण और आत्म-समर्पण को हथियार बनाती, स्वतन्त्र निर्णय लेकर चलने वाली, स्वयं पर भरोसा करने वाली, खुदसर औरत के प्रेम-प्रसंग हों या उसकी आत्म-प्रताड़ना के अन्तरंग पल, अथवा निर्णय की निर्णायक घड़ी में ठहर गई सोच की सुई की दिशा हो, वह उसकी मनोविज्ञान व्याख्या से लेकर यथार्थपरक भोगे हुए सच को बड़ी शिद्दत से बखान करती है, (देवयानी की 'बिसात')। चाहे घर की बाल नौकरानी की बाल सुलभ घृणा, प्रेम अभिलाषा, इच्छा और स्वप्न-संसार को 'सोन मछरिया' के प्रतीक से परिभाषित कर, ममत्व का बोध कराना हो (रमा सिंह की 'सोनमछरिया'), चाहे बेटी पैदा होने की आशंका से भ्रूण-हत्या के लिए मजबूर की जाती माँ के अन्तर में चल रही बहस और घुट-घुट कर जीने की घड़ियों को शब्दचित्रों में उतार पंक्तिबद्ध करना हो। सम्भवतः विद्रोह से पहले ऐसे ही घुटन होती हो? (कमल कुमार की 'अन्तर्यात्रा'), या अकेली जिन्दगी जीते-जीते आस-पास, अड़ोस-पड़ोस से रिश्ते गाँठने, सम्बन्ध बनाने को लालायित कामगार महिला के अकेलेपन की नीरवता और नीरसता को तोड़ने के प्रयास की एक दस्तक बन पन्नों पर बिखर जाना हो (मैत्रेयी पुष्पा की 'सिस्टर'), अथवा अपना सुख नकार कर अपने ही परिवार पर न्योछावर होती, हीन-भावना की शिकार, अपने त्याग-बलिदान के व्यर्थता-बोध के अहसास से भयभीत अपमानित होकर भी रिश्तों के टूटने से डरती, सब कुछ छिन जाने के भय से आतंकित, अपनी ही नजरों में खुद को गिराती, हारी-हारी जिन्दगी जीती, यह कामगार महिलाएँ, जो जीना ही भूल जाती हैं, (नमिता सिंह की 'फिर हार गई वह') के अन्तर्मन को उलीचती इनकी कलम, सूक्ष्म से सूक्ष्म मनोभाव को मामूली से मामूली आलम्बन गोपी के रोते बच्चे ननकू के सहारे खड़ी कर देती है।

महिला लेखिकाओं की कलम अब विदेश में बसे, जड़ों की खोज करते प्रवासी पात्रों की दुविधा, अस्थिरता से रू-ब-रू भी होती है। इंगलैंड के औद्योगिक क्षेत्र में बसा एक भारतीय कोयला मजदूर कमा कर अपने देश लौटने का सपना भीतर ही भीतर पालता है। उसी सपने के सहारे वह जीता है। गोरों के उस देश में रह कर संवादहीनता की

स्थिति में चिड़चिड़ा, असहिष्णु तो वह हो ही जाता है लेकिन भारत से आई खबरें सुन-सुन कर, दंगे-फसाद और हत्याओं की दास्तानें पढ़-पढ़ कर वह जड़-विहीन भी हो जाता है। उसकी अनपढ़ पत्नी को न वहाँ की बोली पसन्द है न वहाँ का पहनावा, न रहन-सहन, इसलिए वह बार-बार भारत लौटने की जिद करती है। विदेश में मिल रहे सुख, सुरक्षा, सुविधा, धन आदि उसे अच्छे नहीं लगते। संवादहीनता उसे देश लौटने के लिए कचोटती रहती है। लेकिन देश की खबरें सुनकर वह भी असमंजस में है। इन्हीं दोनों मानसिकताओं के बीच पति-पत्नी झूलते हैं। लेकिन एक घटना उस प्रवासी का नजरिया ही पलट देती है। जिस देश का सूरज कभी नहीं डूबता था, उसी देश का एक गोरा युवक उससे 'त्रैपेन्स' माँगता है यही बात उसको आत्मविश्वास भर देती है और संवाद कायम होने लगता है फिर बेटा-बेटी का जन्म तो एक सेतु का काम करता है। जब गोरे उसके बच्चों को टॉफी देते हैं और उससे खेलते हुए कहते हैं 'कैच-कैच मास्टर ब्राउनी' भूरेलाल जो मिस्टर ब्राउनी पुकारे जाने से चिढ़ता था, अपना नया नाम स्वीकार लेता है। उसकी जड़ें विदेश में उगने लगती हैं और 'मिस्टर ब्राउनी डू यू वॉन्ट किटि-कैट' के जिन शब्दों को सुनकर वह चिढ़ता था, नफरत से मुँह फेर लेता था, अब उन्हें सुनने के इन्तजार में रहता है (नासिरा शर्मा की 'मिस्टर ब्राउनी')।

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर न्यूयार्क की एक गली ब्राडवे की आत्मकथा में विभिन्न नस्लों, देशों, कालों-गोरों, विकसित सम्पन्न, विकासशील अभावग्रस्त देशों के टकराव इन सबमें जन्म लेती एक माफिया सभ्यता, और हत्या की जीवन-शैली तक को छू आती है इनकी कलम। एक तरफ अन्न को जलाने और समुद्र में फेंकने वाले देश में एक भारतीय जोड़े द्वारा तत्काल चाइनीज रेस्तोराँ से खरीदे गए फूड पैकेट को एक भिखमंगे को दिया जाना और उसके द्वारा उसे कूड़ेदान में फेंका जाना, दूसरी तरफ अन्न को 'परमेश्वर' कहने वाले देश की उस युवक की आधुनिक भारतीय पत्नी का कूड़ेदान से फूड पैकेट को निकालने के लिए जिद करना और उस युवक का उसे उठा लेना है। हर कोई भागता-सा जबर्दस्ती सवाल दागता-सा, कोई किसी की जिम्मेवारी नहीं उठाता-सा नजर आता है वहाँ।

यही भारतीय युवक विकासशील देश के माफिया की हत्या-शैली का शिकार होता है। ताबूत का धन्धा करने वाले युवक का शव अपने ही

द्वारा बनाए गए ताबूत में भारत भेज दिया जाता है। एक सपने का अन्त हो जाता है। कहानी जहाँ पश्चिमी सभ्यता के आतंक की सीमा को छूती त्रासदी का चित्रण करती है, वहीं भारतीय मन की संवेदना को नहीं भूलती।(सुषम वेदी की 'ब्राडवे')।

प्रभा खेतान की कहानी नक्सलवादी आन्दोलन से पैदा हुई है। जिसने अपना जीवन ही जिया था 'परिवर्तन' के सपने को सच करने के लिए, जब वह घर लौटा तो घर ने भी उसे नकार दिया। वह अकेला है। उसके तरीकों से लड़ी जा रही लड़ाई में उसके अपने पिता-भाई-प्रेमिका तो क्या, उसके साथ लड़ रहे 'परिवर्तनकर्मी' साथी भी उसका साथ देने को तैयार नहीं। चूंकि या तो वह व्यवस्था की चपेट में आ चुके थे, या फिर उसके अंग बन चुके थे या फिर अपने हितों को सुरक्षित रखने में संलग्न थे, या उन्हें अब 'परिवर्तन' एक बचकाना हरकत, एक भटकाव लगता था, सयाना होने पर, उसकी यथार्थता समझकर उन्होंने जिसे छोड़ दिया था, या फिर 'परिवर्तन' लाने के उसके तरीके उससे भिन्न थे। माँ केवल माँ होने के नाते उसके लिए चिन्तित है, उसके घर छोड़ने के पहले भी और लौटने के बाद भी। उसे परिवर्तन 'व्यवस्था' से मतलब नहीं, बस अपने बेटे से सरोकार है। पर जिन्हें वे शब्द कण्ठस्थ हैं या जो इनकी व्याख्या करते हैं वह भी अब इस नायक से सटने से भयभीत हैं। उसकी प्रेमिका जो उसकी ब्याहता बन गई थी एक रात के लिए, अब कलक्टर की पत्नी है अपनी मजबूरी को रुपयों से चुकाना चाहती है। कलक्टर पति उसे अपनी 'पावर' का अहसास कराता है, पर अपनी 'पावर' इस्तेमाल नहीं करता। वह पत्नी की उसके प्रति कमजोरी भाँप लेता है।

नायक लौट जाता है, फिर कभी वापस न आने के लिए। यह अत्यन्त ही मार्मिक कहानी है, जो आज के राजनैतिक द्वन्द्व को उजागर करते हुए, यह भी इंगित करती है कि बिना समाज की साझेदारी के अकेले चलकर परिवर्तन सम्भव नहीं!

महिला लेखनी सर्वहारा वर्ग की नई-पुरानी पीढ़ी की नायिकाओं से भी परिचित है। छोटानागपुर के दूर-दूर जंगली इलाकों में बसी उनकी सर्वहारा नायिकाएँ पुरानी और नई पीढ़ियों की प्रतीक हैं। छोटानागपुर के क्षेत्र की पुरानी परम्परा उन्हें अधिक आजादी देती थी और उनके प्रति अधिक उदार थी। आज वह उससे वंचित हो रही है। वह मध्यमवर्गीय सीता-सावित्री की सोच वाली शिक्षा-प्रणाली की अनुदारता

और संकीर्णता की शिकार भी हो रही है। लेकिन जिरवा अपनी माँ की तरह भीरू और भयभीत प्रवृत्ति के विपरीत अपनी स्वच्छन्दता को बरकरार रखने के लिए कई हादसों और कई हाथों से गुजरते हुए भी चुनने और निर्णय लेने का अपना अधिकार सुरक्षित रखती है। मध्यमवर्गीय मानसिकता और 'तथाकथित इज्जत' की तरफ बढ़ते हुए भी वह 'परजीवी' बनने को तैयार नहीं, यहाँ तक कि वह इज्जत और प्रतिष्ठा की परिभाषा भी अपने अनुसार गढ़ती है और अपनी शर्तों पर जीने के संकल्प को पूरा करने के लिए अपनी रणनीति खुद बनाती है (रमणिका गुप्ता की 'जिरवा और जिरवा-माय')।

व्यंग्य के माध्यम से बड़ी मासूमियत से महिला लेखनी आज की शिक्षा प्रणाली की पोल खोलती है उनकी धज्जियाँ उड़ाती है और बिना पढ़े डिग्रियाँ लिए हुए अध्यापकों को कटघरे में खड़ा करती है (खुर्शीदजहाँ की 'मैं हूँ एक व्याख्याता')।

सूर्यवाला की 'सुनन्दा छोकरी की डायरी' व्यंग्य के माध्यम से समाज की विषमताओं पर गहरा आघात भी करती है। बम्बइया भाषा के सहारे सुनन्दा का व्यक्तित्व जीवन्त हो उठा है।

कुसुम अंसल ने एकदम नए विषय को छुआ है। बीमार, अपाहिज मरीज को दर्द से तड़पने देने से बेहतर उसे मरने देना श्रेयस्कर है या नहीं। यह प्रश्न उन्होंने बड़े मानवीय ढंग से उठाते हुए विदेशों में बसे बच्चों से उनके माँ-बाप के रिश्तों की दूरियों को भी समेटा है।

भारत तो आजाद हुआ पर वेश्या के कोठे पर बैठी औरत के लिए कोई बदलाव नहीं आया। वह तो पहले से ही 'आजाद' थी। उस 'आजादी' की मार से त्रस्त ही नहीं बल्कि वह एक प्रकार से उस 'आजादी' की गुलामी झेल रही थी, और आज भी झेल रही है। कृष्णा सोबती की यह कहानी 'आजादी शम्मोजान की' आज भी उतनी ही सच है जितनी तब थी जब वर्षों पहले उन्होंने इसे लिखा था।

मुझे आशा है कि यह संग्रह महिला कथा लेखन की सार्थकता का बोध कराते हुए नारी समस्याओं के साथ-साथ दूसरे क्षेत्रों में भी नारी साहित्यकारों के हस्तक्षेप के सम्प्रेशण में समर्थ हो सकेगा।

रमणिका गुप्ता

अनुक्रम

बिसात/**देवयानी** 15

जय श्रीराम/**पुष्पा सक्सेना** 37

मिस्टर ब्राउनी/**नासिरा शर्मा** 45

ब्रॉडवे/**सुषम बेदी** 57

जिरवा और जिरवा-माय/**रमणिका गुप्ता** 66

अन्तर्यात्रा/**कमल कुमार** 81

सिस्टर/**मैत्रयी पुष्पा** 89

सोन मछरिया/**रमा सिंह** 103

सजीवना/**रागिनी मालवीय** 112

मैं हूँ एक व्याख्याता/**डॉ. खुर्शीद जहाँ** 119

फिर हार गई वह/**नमिता सिंह** 127

मैं अब नहीं लौटूँगा/**डॉ. प्रभा खेतान** 137

सुनन्दा छोकरी की डायरी/**सूर्यबाला** 150

नीली परछाईं/**कुसुम अंसल** 158

आजादी शम्मोजान की/**कृष्णा सोबती** 165

देवयानी

बिसात

कहाँ से शुरू करूँ नहीं मालूम। जिन्दगी बहुत उलझी हुई है। कई सिरे निकले हैं जो एक दूसरे से गुँथे हैं। प्रेम-घृणा, करुणा-दुविधा, शौर्य-भीरुता, सौजन्यता-उद्दंडता, संघर्ष और विरक्ति, सभी मिलजुल कर थामे हुए हैं इस व्यक्तित्व को। मानव-मन की स्वाभाविकता, भावुकता, कामना, उत्तेजना और आसक्ति पानी में मिसरी की तरह घुली-मिली है।

इस व्यक्तित्व का मूल्यांकन करने बैठा जाय तो कहीं एक निर्णय पर नहीं पहुँचा जा सकता। वह जिधर भी बढ़ा अन्तिम छोर को छुआ। प्रेम में हो या ललक में, त्याग में हो या मोह में, हिम्मत में या पलायन में, सब पक्षों को एक सूत्र में बाँध पाना कठिन है। इस गाँठ में कई धागों के कई सिरे हैं जिनसे गाँठ खोली जा सकती है। किसी एक क्षण के सिरे को ही पकड़ना होगा, जहाँ तक इस जीवन की गाँठ खुल पाए?

यह व्यक्तित्व किसका है, इसका नाम जाने बिना, बताए बिना, इसे पहचाना जा सकता है। यह व्यक्तित्व भारत की आजादी के दो दशक पहले और आजादी के बाद के संक्रमण काल का प्रतिनिधित्व करता है; जब पुराने मूल्यों के प्रति आस्था, नए मूल्यों के प्रति मोह, बड़ी जात छोटी जात, बड़ा आदमी छोटा आदमी में कटी-छंटी-बंटी, फटे संस्कारों वाली संस्कृति पर पैबन्द लगाती दुविधाग्रस्त पीढ़ी, संस्कारों का मोह पालते हुए संस्कारों को तोड़ रही थी। इसलिए अपराध-बोध से ग्रसित थी पूरी की पूरी पीढ़ी। इसीलिए आत्महनन करती थी। पूरी प्रबुद्ध कौम नए मूल्यों को अपना रही थी, मुकाबला कर रही थी पुराने संस्कारों का, युद्ध कर रही थी मन से, परिवार से, समाज से, इसलिए अपने को क्रान्तिकारी मान कर अपनी शहादत पर आत्म-करूणा, आत्म-दया, आत्म-श्लाघा से भर उठती थी। पर वह बढ़ी इससे आगे नहीं। कहीं दो टूक बात कर परिवर्तन नहीं हो रहा था। संशयग्रस्त थी पूरी की पूरी पीढ़ी।

नए-नए रिश्तों के परमुटेशन-काम्बीनेशन, नेता-सहनेता-देवियाँ, चमचे-लटक,